

भारत की संत-परम्परा



श्याम शंकर उपाध्याय
पूर्व विधिपरामर्शी मा0 राज्यपाल,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ।
पूर्व जनपद एवं सत्र न्यायाधीश, उत्तर प्रदेश
मोबाइल: 9453048988
e-mail : ssupadhyay28@gmail.com

1. संसार के सभ्य मानव समाज में संतों का उद्भव उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं सभ्य समाज। भारत सहित संसार की समस्त सभ्यताओं और संस्कृतियों के विकास एवं नियमन में संतों की सदा से महती भूमिका रही है। मानव समाज के सर्वाधिक लोकोपकारी, परोपकारी, नैतिक एवं आदर्श अंग के रूप में संत अपने-अपने आचरण से समग्र मानव समाज को अनादि काल से सुसभ्य और संस्कारवान बनाने में अपना योगदान देते आ रहे हैं। भारतीय समाज एवं संस्कृति की तो संतों, स्वामियों एवं सन्यासियों के बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती है। वैदिक काल से अब तक भारतीय समाज में जो कुछ भी मानवोचित, आदर्श एवं अनुकरणीय है, वह सब वास्तव में सनातन संत समाज की ही देन है।
2. सामान्य मानवीय कमजोरियों से ऊपर उठ पाना और आदर्श जीवन जी पाना बहुधा सामान्य व्यक्तियों के लिए संभव नहीं हो पाता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, अपना-पराया, ऊँच-नीच आदि जैसी सामान्य मानवीय कमजोरियों से जब कोई व्यक्ति ऊपर उठ जाता है तो वह समाज के अधिसंख्य लोगों से अलग दिखाई देने लगता है और ऐसे आदर्श पुरूष के प्रति समाज स्वयमेव श्रद्धावान हो जाता है। समाज की सामूहिक श्रद्धा का पात्र बन चुका ऐसा ही व्यक्ति संत कहलाता है। वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण संहिताओं, पुराणों सहित सम्पूर्ण भारतीय वांग्मय संतों की महिमा से भरा पड़ा है। भारतीय चिंतन परम्परा का संत ज्ञान, वैराग्य, वैदुष्य, लोक-मंगल एवं परमार्थ का पर्याय माना जाता है। इसलिए संत का जीवन-दर्शन आत्मसात करना अथवा संत बनना सामान्य व्यक्ति के वश की बात नहीं है। धर्मशास्त्रों के मर्मज्ञ एवं उसका गहन निर्वचन (व्याख्या) करने वाले विद्वान तो आज भी बहुतायत से मिल जाँएंगे परन्तु सद्वृत्ति, वैराग्य, अनाशक्ति जैसे लोकोत्तर गुणों को जीवन में धारण करने वाले और उसे जीने वाले सन्त विरले ही मिलेंगे। माया, मोह, लोभ, राग, विद्वेष एवं संसार के आकर्षणों में लिप्त व्यक्ति के लिए संतत्व धारण करना असम्भव है। गोस्वामी तुलसीदास जी के मतानुसार सच्चे संत का स्वभाव कुछ इस प्रकार होता है:
**उदासीन धन दाम न दाय, सपनेहुँ जाके मोह न माया।
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी, कहत साधु महिमा सकुचानी ।
सो मो सन कहि जात न कैसें, साक बनिक मनि गुन गन जैसें ।
बंदउँ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ।
संत समाज पयोधि रमा सी, बिस्व भार भर अचल छमा सी।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोइ ॥
संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा, राम चरन रति देहु ॥**
3. संत कबीर दास ने भी कहा है: **‘कामी क्रोधी लालची इनते भक्ति न होय, भक्ति करै सो सूरमा जाति वरन कुल खोय।’** वास्तव में सन्यास-वृत्ति व संत-वृत्ति वही धारण कर सकता है जो वर्ण (जाति), पहचान, कुल (परिवार), लोभ, अपने व पराये के भेद से मुक्त हो चुका हो। नकली सन्यास-वृत्ति व संत-वृत्ति धारण करने वाले महानुभावों के बारे में गोस्वामी तुलसीदास जी का मत देखिए:
**नारि मुई घर सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाय भए सन्यासी।
जाके नख शिख जटा विशाला, सो तापस कराल कलिकाला ।
जे जनमे कलिकाल कराला, करतब बायस बेष मराला।
चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े। कपट कलेवर कलि मल भाँड़े।
साधु असाधु सदन सुक सारीं, सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं।
किएहुँ कुबेषु साधु सनमानू, जिमि जग जामवंत हनुमानू।**
4. सच्चे संत किस प्रकार लोभ और आशक्ति से मुक्त होते हैं, इसे इस छोटी कहानी से समझा जा सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द नामक एक सच्चे सन्यासी गंगा तट पर कुटी बनाकर रहा करते थे। कुटी के अन्दर स्वामी जी नित्य

उपयोग की बहुत थोड़ी सी वस्तुएं जैसे वस्त्र, कुछ बर्तन, सात्विक खाद्य सामग्री और ग्रन्थ आदि ही रखते थे। एक रात कुटी में एक चोर उस समय घुस आया जब स्वामी जी सो रहे थे। चोर ने कुटी के अन्दर रखे हुए वस्त्रों, बर्तनों, खाद्य सामग्री और ग्रन्थों को एक गठरी में बांध लिया और लेकर जाने लगा कि गठरी से एक बर्तन नीचे गिर गया जिसकी आवाज से स्वामी जी जग गये। स्वामी जी के जगते ही चोर गठरी फेंककर भागने लगा। स्वामी जी ने तुरन्त गठरी उठाकर अपने सिर पर रखी और चोर के पीछे दौड़ पड़े। चोर भागता रहा और स्वामी जी सिर पर गठरी रखे हुए चोर के पीछे दौड़ते रहे। चोर अन्ततः थककर खड़ा हो गया और अपनी गलती के लिए स्वामी जी से क्षमा मांगने लगा। स्वामी जी ने चोर को समझाया कि उसने कोई गलती नहीं की है अपितु स्वामी जी का अज्ञान दूर करके उसने उन पर उपकार किया है। स्वामी जी ने चोर को बताया कि वह उसके पीछे उसे पकड़ने के लिए अथवा उसे दण्डित करने के लिए नहीं दौड़ रहे थे अपितु उस गठरी में रखी सामग्री जो उसके काम की थी उसे उसको देने के लिए उसके पीछे दौड़ रहे थे। स्वामी जी ने चोर से कहा कि वह कृपा करके उस गठरी को ले जावे क्योंकि एक सन्यासी होने के कारण उन्हें उक्त वस्तुओं को अपने पास नहीं रखना चाहिए था और न ही उक्त वस्तुओं के लोभ और आकर्षण में ही पड़ना चाहिए था। स्वामी जी ने चोर से कहा कि वह वास्तव में स्वामी जी को उक्त वस्तुओं के प्रति उनके अनुचित लोभ से उन्हें मुक्त करा रहा था और उन पर उपकार कर रहा था। स्वामी जी ने चोर को स्पष्ट किया कि गलती उसने नहीं अपितु स्वयं स्वामी जी ने किया था उक्त सांसारिक वस्तुओं का संग्रह करके। स्वामी जी के मुँह से यह सब सुनकर चोर का चित्त परिवर्तित हो गया, वह स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ा और उनसे अपना शिष्य और सेवक बना लेने के लिए गिड़गिड़ाने लगा। चोर के बारम्बार अनुनय-विनय को देखते हुए स्वामी जी ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया और उसे अपना शिष्य बना लिया। यह चोर आगे चलकर एक सच्चा संत बना और लोक-मंगल के अनेकानेक कार्य किये।

5. सच्चे संत सचमुच में राग, द्वेष, क्रोध, अपकार, लोभ, प्रतिशोध आदि अनेकानेक मानवीय कमजोरियों से मुक्त होते हैं। एक बार एक संत अपने शिष्य के साथ नदी में स्नान कर रहे थे। जल में बहता हुआ एक बिच्छू उन्हें दिखाई दिया। संत ने बिच्छू को बचाने के लिए उसे अपनी हथेलियों पर उठा लिया, फिर क्या था— बिच्छू ने तुरन्त संत की हथेली में डंक मार दिया, डंक की पीड़ा से बिच्छू उनकी हथेली से छूटकर जल में गिर पड़ा, संत ने फिर उसे अपनी हथेली पर उठा लिया और उसने फिर से उनकी हथेली में डंक मार दिया और वह फिर उनकी हथेली से जल में गिर पड़ा, संत ने फिर उसे हथेली पर उठाया और उसने फिर उनकी हथेली में डंक मारकर उन्हें असहनीय पीड़ा पहुँचाई। संत बिच्छू को बचाने के लिए बार-बार उसे अपनी हथेली पर उठाते रहे और वह उन्हें डंक मारता रहा। संत अन्ततः बिच्छू को नदी के किनारे ले आये और उसे झाड़ियों में सुरक्षित छोड़ दिये। बिच्छू के डंक से संत पीड़ा से कराह रहे थे। संत को पीड़ित देखकर उनके शिष्य ने कहा— गुरुदेव, आप इस दुष्ट बिच्छू द्वारा बार-बार डंक मारने के बाद भी उसे नदी में क्यों नहीं बह जाने दिये और उसे क्यों बचा रहे थे। संत ने उत्तर दिया— शिष्य, बिच्छू का अपना स्वभाव है, मेरा अपना। प्रकृति प्रदत्त स्वभाव के कारण बिच्छू अपने सामान्य धर्म का पालन कर रहा था और मुझे बार-बार डंक मार रहा था, इसमें उसका कोई दोष नहीं था अपितु यह उसका प्रकृति प्रदत्त सहज स्वभाव था, मैं तो संत हूँ, मैं यदि बिच्छू के प्रति क्रोध अथवा प्रतिशोध की भावना में आकर उसे नदी में बह जाने देता और मर जाने देता तो अपने धर्म और कर्तव्य से मैं वंचित हो जाता, बिच्छू ने मुझे बार-बार डंक मार कर मुझे वास्तव में आहत नहीं किया अपितु वह मेरे संतत्व की परीक्षा ले रहा था कि क्या वास्तव में मेरा संतत्व सिद्ध हुआ है अथवा नहीं। यदि मैंने बिच्छू को नहीं बचाया होता और उसके बार-बार डंक मारने के पश्चात् उसके प्रति क्रोध और प्रतिशोध में आकर उसे मर जाने दिया होता तो मुझे उसके डंकों से भी अधिक पीड़ा इस ग्लानि से होती कि मेरा संतत्व अपूर्ण और नकली है और मैं राग, द्वेष, क्रोध, प्रतिशोध आदि जैसे सामान्य मानवीय कमजोरियों से ऊपर नहीं उठ पाया हूँ, मुझे अपने संतत्व की सिद्धि से जो अपार सुख मिला है, उसके सामने बिच्छू के अनेकों डंकों से मुझे मिली हुई पीड़ा नगण्य है। सचमुच में सच्चा संत ऐसा ही हो सकता है और इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास जी ने सच्चे संत के स्वभाव का वर्णन करते हुए रामचरित मानस में कहा है:

संत हृदय नवनीत समाना, कहहिं संत वरू कहन न जाना ।

निज परिताप द्रवै नवनीता, पर परिताप सो संत पुनीता ॥

संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।

बालबिनय सुनि करि कृपा, राम चरन रति देहु॥

बंदउँ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ।

अंजलि गति सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोइ॥

रामचरित मानस की उक्त पंक्तियों का अर्थ है: संतों का हृदय सचमुच में नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है परन्तु संतों के कोमल हृदय की तुलना मक्खन से करके विद्वानों ने उचित कार्य नहीं किया है क्योंकि मक्खन तो तभी पिघलता है जब उसे गर्मी (कष्ट) मिलती है जबकि संत तो दूसरों के कष्टों से द्रवित हो जाते हैं अर्थात् उन्हें अपने कष्ट

की चिंता के बजाय दूसरों के कष्टों के निवारण की ही चिंता होती है। धन्य हैं ऐसे संत, धन्य है उनकी जीवमात्र के प्रति संवेदना, धन्य है महान संत परम्परा।

6. हत्या व बलात्कार जैसे गम्भीर अपराधों तथा सम्पत्ति विवाद में आलिप्त महानुभाव जो प्रायः थाना, पुलिस और अदालतों के चक्कर लगाते हुए और जेल जाते हुए दिखाई देते हैं, वह सनातन भारतीय संत परम्परा के वाहक कैसे हो सकते हैं, यह सहज ही समझा जा सकता है। अपराध, व्यसन, वासना व संग्रह में संलिप्त महानुभाव जो केवल वाह्य वस्त्र विन्यास अथवा कलेवर धारण करके स्वामी, सन्यासी अथवा संत होने का पाखंड कर रहे होते हैं, वह सनातन महान संत परंपरा के प्रतिनिधि कदापि नहीं हो सकते हैं, वह स्वयं अपना और समाज का भी अमंगल कर रहे होते हैं। ऐसे छल-परायण लोग देश की विधियों द्वारा तथा समाज द्वारा भी दण्डित किये जाने के पात्र होते हैं। व्यापार जगत की कारपोरेट संस्कृति एवं कारपोरेट जगत की गला काट प्रतिस्पर्धा में दिन रात लिप्त महानुभाव भी जब अपने सन्यासी और संत होने की घोषणा करते हैं तो वह सम्पूर्ण सन्यास और संत-वृत्ति का एक प्रकार से उपहास कर रहे होते हैं। संत-वृत्ति एवं सन्यास-वृत्ति धारण करने के लिए अपेक्षित सद्वृत्तियां वस्तुतः ब्रह्म विद्या एवं अध्यात्म के विषय हैं जो चेतना के सतत् परिष्कार से प्राप्तव्य होती हैं। यह सद्वृत्तियां कारपोरेट, मार्केट, व्यापार अथवा वाणिज्य-वृत्ति की उत्पाद नहीं हैं।
7. स्वामी सन्यासी और संत बनने के प्रमुख रूप से दो मार्ग होते हैं: प्रथम तो कई लोग स्वामियों, सन्यासियों अथवा संतों द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्रों को पहन कर अपने आप को स्वामी, सन्यासी अथवा संत घोषित कर देते हैं। दूसरे विभिन्न अखाड़ों, आश्रमों व संगठनों द्वारा भी स्वामी, सन्यासी व संत बनाये जाते हैं। किसी को स्वामी, सन्यासी अथवा संत घोषित किये जाने से पूर्व उस व्यक्ति की पात्रता का सम्यक और विशद परीक्षण किया जाना चाहिए। संबंधित व्यक्ति का पूर्व जीवन-वृत्त, कार्य, व्यवहार व आचरण, अभिरूचि, भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों एवं शाश्वत परम्पराओं की समझ, संसार के विविध आकर्षणों के प्रति विरक्ति का भाव, जाति, वर्ण, कुल आदि के प्रति उदासीनता, बुद्धि में समत्व का भाव, तप, त्याग एवं लोकमंगल के प्रति समर्पण और निष्ठा आदि जैसी विशिष्टताओं को दृष्टिगत रखते हुए संबंधित व्यक्ति के व्यक्तित्व की व्यापक पड़ताल के बाद ही यदि उसे स्वामी, सन्यासी अथवा संत घोषित किया जावे तो सद्वृत्तियों का धनी इस प्रकार का स्वामी, सन्यासी अथवा संत चौबीस कैरेट स्वर्ण के सदृश होगा और उससे समाज का बड़ा भला होगा। इसके विपरीत यदि उक्त सद्वृत्तियों से रहित होते हुए भी किसी व्यक्ति को स्वामी, सन्यासी अथवा संत जैसी महान व पवित्र उपाधि अनायास ही प्रदान कर दी जाती है तो ऐसा अपात्र व नकली स्वामी, सन्यासी व संत न केवल सनातन सन्यास परम्परा एवं संत परम्परा को अपने कुत्सित आचरण से गंभीर क्षति पहुँचाता है अपितु उससे समाज को भी अन्ततः कोई लाभ नहीं मिलता है बल्कि क्षति ही होती है।
8. सच्चे संत धर्म के वाहक और संरक्षक होते हैं। हितोपदेश में संत-धर्म का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:
इज्याअध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥
(संत धर्म के आठ मार्ग इस प्रकार हैं: 1. यज्ञ अथवा उपासना, 2. अध्ययन, 3. दान, 4. तप, 5. सत्य, 6. सद्वृत्तियों को धारण करने की क्षमता, 7. क्षमा, 8. लोभहीनता। इनमें से प्रथम चार अर्थात् यज्ञ अथवा उपासना, धर्मशास्त्रअध्ययन, दान व तप तो प्रायः दम्भ अथवा पाखण्ड के प्रदर्शन हेतु भी प्रयुक्त होते हैं जबकि शेष चार अर्थात् सत्य, सद्वृत्तियाँ, क्षमा व लोभहीनता केवल महान अथवा श्रेष्ठ संत में ही मिलती हैं। किसी हास्य कवि ने विविध प्रकार के लोगों द्वारा की जाने वाली पूजा की प्रकृति का निरूपण इस प्रकार किया है “**पूजा तीन प्रकार की, छोटी, बड़ी, मझोल । द्वार रहे छोटी करे, राहे करे मझोल । द्वार पराये जाय तो, देय बड़ी का खोल ।**” वास्तविक धर्म, पूजा व उपासना के मर्म को समझे बिना उपासना व पूजा आदि का मात्र दिखावा करने वाले असन्तों पर व्यंग्य करते हुए किसी व्यंग्य कवि का दृष्टिकोण देखिए: “**जगत ठगत सो भगत है, भगत ठगत सो सन्त । जो सन्तन को ठगत है, वाको नाम महन्त।**”
9. आधुनिक समय में स्वामियों, सन्यासियों एवं संतों का एक वर्ग दिन रात शास्त्रों आदि की कथा-वृत्ति के कार्य में लगा हुआ है। भारतीय संस्कृति के मूल तत्व क्या हैं, और क्या यह तत्व इन कथाकारों के विमर्श और प्रवचनों में दिखाई देते हैं। मानव जाति के लिए वेदों का उद्घोष रहा है “मनुर्भव” अर्थात् मनुष्य बनों। मनुष्य बनने का अर्थ है कि मानवोचित समस्त कर्म जिसमें ज्ञान, विज्ञान, परमार्थ, शील-सदाचार, जीवन के चार परम लक्ष्य-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) सम्मिलित हैं, की प्राप्ति के लिए कर्मशील रहना। मानव जीवन के यह उदात्त लक्ष्य इन

कथाकारों के प्रवचनों के केन्द्र में होने चाहिए, होते हैं या नहीं यह अलग बात है। भारत राष्ट्र की इतिहास में लम्बे समय तक गुलामी, समाज का विभिन्न जातीय व वर्गीय समूहों में विभाजन और उनमें परस्पर कटुता, वैश्विक परिदृश्य, भारत और भारतीयों की विश्व में स्थिति, जनसांख्यिकी की समुदायवार स्थिति, धर्मान्तरण, भारतीय संस्कृति के प्रति भारतीयों का क्षीण होता आग्रह और इन जैसे अन्य ज्वलंत प्रश्नों पर विमर्श इन कथाकारों की कथाओं में प्रायः स्थान क्यों नहीं पाता है, इस पर भी कथाकारों एवं विद्वत वर्ग के बीच विमर्श होना चाहिए। भारतीय समाज के समक्ष चुनौती के रूप में उपस्थित उपरोक्त ज्वलंत प्रश्नों से बच कर निकल जाना और शास्त्रों के आर्थिक दोहन को ही अभीष्ट बना लेना कथाकार-जगत के लिए कदापि उचित नहीं है।

10. दार्शनिक स्तर पर व्याप्त मतवैभिन्य एवं बिखराव के कारण अनेकानेक मतों, सम्प्रदायों, विश्वासों तथा उपासना समूहों में बँटा सनातन भारतीय समाज भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों व प्रतिमानों से किस प्रकार दूर होता चला जा रहा है, यह सम्पूर्ण धर्म-अध्यात्म जगत एवं स्वामी सन्यासी जगत की चिन्ता और विमर्श का विषय होना चाहिए। कैमरा, मोबाइल, इण्टरनेट, फेसबुक आदि जैसे आधुनिक संसाधनों का खुलकर उपयोग करने वाला स्वामी-सन्यासी जगत भारतीय समाज की आज के दौर की उपरोक्त चुनौतियों पर भी विमर्श करे और जनमानस को उनके निराकरण के लिए तैयार करे तो निश्चित रूप से इससे भारतीय संस्कृति और समाज का बड़ा भला होगा। धर्म जगत में व्याप्त आडम्बर, शास्त्रों में आई परस्पर प्रतिकूल अवधारणाएँ और उससे समाज में समय समय पर उत्पन्न होने वाले विभ्रम और वैमनस्य का निराकरण तथा प्रतिकूल शास्त्रीय अवधारणाओं में किस प्रकार समन्वय बिठाया जा सकता है, जैसे प्रश्न भी धर्माचार्यों, कथाकारों, स्वामियों और सन्यासियों के मध्य विमर्श के केन्द्र में होने चाहिए जो कदाचित दिखाई नहीं देता। सन्त समाज यदि इस पर कुछ कर सके तो यह समाज के व्यापक हित में होगा। जीवन के गूढ़ और गम्भीर विषयों पर विमर्श यदि मनीषी बाबाओं, स्वामियों व सन्यासियों के प्रवचनों और उपदेशों में भी नहीं होगा तो फिर अन्यत्र कहाँ होगा। संस्कृति सहित मानव की खोजी प्रवृत्तियाँ जड़ (inert) नहीं हो सकती हैं, कालखण्ड विशेष में अटककर ठहरी नहीं रह सकतीं। संस्कृति लोक जीवन का सतत् प्रवाहमान स्वरूप होती है। संस्कृति में लोक जीवन की समस्त स्वस्थ परम्पराओं, जीवन मूल्यों तथा जीवन-शैली का दर्शन होना ही चाहिए। भारतीय संस्कृति के जीवन्त व उदात्त पक्ष क्या हैं, इसका पुरजोर सन्देश मनस्वी बाबाओं के प्रवचनों आदि के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व तक जाना ही चाहिए।

11. कृष्णद्वैपायन वेदव्यास संसार के अप्रतिम विद्वान हुए हैं और उन जैसा कोई दूसरा लेखक आज तक संसार में पैदा नहीं हुआ है। संसार का कोई विषय नहीं बचा जिस पर वेदव्यास जी ने नहीं लिखा हो। वेदव्यास जी के बचपन का नाम कृष्णद्वैपायन था। उनका नाम 'कृष्णद्वैपायन' इसलिए पड़ा क्योंकि उनका जन्म आधुनिक उत्तर प्रदेश राज्य के जनपद जालौन उरई के कालपी नामक उपनगर के समीप यमुना नदी के दो द्वीपों के बीच हुआ था और उनके शरीर का रंग साँवला था जिसके कारण उनका नाम कृष्ण (काला अथवा साँवला) द्वैपायन (दो द्वीपों के बीच पैदा हुआ) अर्थात् कृष्णद्वैपायन पड़ा। कालान्तर में वेदों की विभिन्न शाखाओं का वर्गीकरण करने के कारण उनका नाम वेदव्यास पड़ा। 'वेद' का अर्थ ज्ञान और 'व्यास' का अर्थ शाखा होता है। वेदों में निहित विविध विषयों के विशाल ज्ञान भंडार को विषयवार विभिन्न शाखाओं में विभक्त करने के कारण उनका नाम वेदव्यास पड़ा। वेदव्यास जब सत्रह पुराणों की रचना कर चुके थे तो एक दिन उनसे मिलने नारद मुनि पहुँचे। नारद ने वेदव्यास जी से पूछा कि सत्रह पुराणों में आपने क्या लिखा है और इतने विशाल ग्रन्थों की रचना के बाद क्या आप लेखन कार्य से संतुष्ट हैं तो वेदव्यास जी ने उत्तर दिया कि नहीं मैं अपने लेखन कार्य से अभी भी संतुष्ट नहीं हूँ। नारद जी ने वेदव्यास जी को सुझाव दिया कि वह सत्रह पुराणों में अब तक जिन भी विशाल ज्ञान भंडार को समाविष्ट किये हैं उन सब का निचोड़ अथवा सारांश एक अलग पुराण में लिखें ताकि सामान्य जनमानस उस एकमात्र पुराण को भी पढ़कर और सुनकर उनके सम्पूर्ण लेखन का ज्ञान प्राप्त कर सके। नारद जी के इस सुझाव पर वेदव्यास जी ने सत्रह पुराणों में अपने द्वारा जीवन और जगत के समस्त विषयों पर लिखे गये विस्तृत और गूढ़ ज्ञान का निचोड़ व सारांश एक पृथक अट्टारहवें पुराण में संकलित कर दिया और इसी अट्टारहवें पुराण का नाम बाद में 'श्रीमद्भागवत पुराण' पड़ा जिसमें कुल 18,000 श्लोक हैं। ब्रह्मंड का ऐसा कोई विषय नहीं है जिस पर श्रीमद्भागवत पुराण के इन 18,000 श्लोकों में वेदव्यास जी ने नहीं लिखा हो। सहज कल्पना की जा सकती है कि संसार के अप्रतिम विद्वान वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत पुराण में जीवन और जगत के कैसे-कैसे गूढ़ विषयों पर लिखते हुए लोक-कल्याण के लिए उनकी व्याख्या की होगी परन्तु क्या वेदव्यास जी जैसे लोकोत्तर विद्वान द्वारा श्रीमद्भागवत पुराण में लिखी गयी बातों को कोई साधारण अथवा अल्पज्ञानी कथाकार व प्रवचनकर्ता भी समझ सकता है और उसके बारे में जनमानस को समझा सकता है। श्रीमद्भागवत पुराण की कथा कहने, उसकी व्याख्या करने और उसमें निहित संदेश को सामान्य जनमानस तक पहुँचा पाने की विद्वता, क्षमता व कौशल विरले विद्वानों, कथाकारों और भागवताचार्यों में ही हो सकती है न कि सामान्य रूप से कथाकारी में लिप्त अल्पज्ञानी कथाकारों, किस्साकारों, प्रवचनकर्ताओं और तथाकथित भागवताचार्यों में। प्राचीन भारतीय शास्त्रों में निहित जीवन और जगत के गूढ़ ज्ञान की समुचित व्याख्या,

कथाकारी एवं प्रवचनों आदि के माध्यम से उन पर जनमानस का समुचित मार्गदर्शन कर पाना सामान्य विद्वानों, कथाकारों व प्रवचनकर्ताओं के वश की बात नहीं है। शास्त्रों के गम्भीर अध्येता व मर्मज्ञ द्वारा ही शास्त्रों की सम्यक विवेचना संभव हो सकती है और इस प्रकार के मनीषी विद्वान ही शास्त्रों में निहित वास्तविक संदेश को जनमानस तक अपनी कथाओं और प्रवचनों के माध्यम से पहुँचा सकते हैं न कि शास्त्रों की अल्प समझ रखने वाले अल्पज्ञानी कथाकार आदि। इस संबंध में किसी विद्वान का यह मत सर्वथा समुचित प्रतीत होता है कि सोने की परीक्षा अग्नि में होती है, गृहिणी की परीक्षा विपत्ति काल में, योद्धा की परीक्षा रणभूमि में और विद्वान की परीक्षा भागवत में होती है:

**विभावसौ हाटकसंपरीक्षा विपत्तिकाले गृहिणी परीक्षा ।
रणांगणे शस्त्रभृतां परीक्षा विद्यावतां भागवते परीक्षा ।।**

12. कथा-जगत में जहाँ बड़ी संख्या में शास्त्रज्ञ, मनीषी व विद्वान संत, स्वामी व सन्यासी, कथाकार व वार्ताकार आदि सक्रिय हैं, वहीं शास्त्रों की अल्प समझ भी नहीं रखने वाले लम्पटाचार्य, द्वन्दाचार्य, धूर्तानन्दी तथा मायानन्दी भी सक्रिय हैं जो अपने प्रवचनों व प्रदर्शनों आदि से भारतीय संस्कृति, भारतीयता, धर्म व दर्शन का सही सन्देश विश्व को नहीं दे पा रहे हैं और इससे अन्ततः भारतीय संस्कृति को ही क्षति पहुँच रही है। धर्म दर्शन, भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों तथा उसके मर्म को अच्छे से जानने वाले व्याख्याकारों व बुद्धजीवियों का एक बड़ा वर्ग विश्वविद्यालयों सहित अन्य उच्च अकादमिक संस्थानों में भी सुलभ है परन्तु इस अकादमिक वर्ग की उदासीनता व निष्क्रियता के चलते भारतीय संस्कृति, धर्म व दर्शन का उदात्त पक्ष विश्व में नहीं जा पाता है। यदि संत समाज का एक भाग संस्कृति, धर्म व दर्शन की समुचित व्याख्या व उसका प्रस्तुतीकरण कर पाने में अक्षम हो तो इस दायित्व का सुन्दर निर्वाह विश्वविद्यालयों का सम्बन्धित अकादमिक वर्ग कर सकता है। अध्यात्म, धर्म, दर्शन आदि जैसे गूढ़ विषयों पर विद्वत समाज, स्वामी, सन्यासियों के मध्य शास्त्रार्थ की परम्परा भारत की सनातन अकादमिक परम्परा रही है। **“वादे वादे जायते तत्त्व बोधः, मुण्डे मुण्डे मर्तिभिन्नाः, तर्को अप्रतिष्ठा श्रुतियो विभिन्नाः, नैको ऋषिः यस्य मतं प्रमाणं, धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनों येन गता स पन्थाः”** भारतीय संस्कृति और सनातन चिंतन धारा की परम्परा रही है। धर्म, दर्शन, भारतीय संस्कृति और समाज के समक्ष विद्यमान चुनौतियाँ और उनके समाधान आदि जैसे विषयों पर सन्तों, स्वामियों, सन्यासियों, कथाकारों, किस्साकारों के बीच शास्त्रार्थ की परम्परा क्यों विलुप्त हो गई, इस पर पुर्नविचार होना चाहिए और इसे फिर से शुरु किया जाना चाहिए।
